

श्रमण-साधना

□ डॉ० शोभनाथ पाठक

मानव को मानवता की तुला पर गुरुतर होने के लिए साधना-सम्पन्नता अपेक्षित है। साधनापथ कंटकाकीर्ण अवश्य होता है किन्तु साधक के कठोर तप-संयम-संकल्प आदि के समन्वयात्मक सम्बल से पथ का प्रशस्त होना स्वाभाविक है और साधक अपने गन्तव्य तक पहुँच जाता है। भगवान् महावीर ने भी सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की वरीयता को समझाते हुए प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक बताया है। साधक की साधना व आत्मविश्वास पर समस्त सिद्धियाँ उसके चरण चूमती हैं। अर्हन्त भी केवलज्ञान और सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य की सहायता न लेकर स्वयं की साधना से केवलज्ञान प्राप्त करते हैं। तभी तो कहा गया है—

नापेक्षा चक्रिरेऽर्हन्तः परसाहायिकं क्वचित्,
केवलं केवलज्ञानं, प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।
स्ववीर्येणैव गच्छंति जिनेन्द्राः परमं पदम् ॥^१

तात्पर्य यह है कि जैन धर्म में कठोरतम संयम-साधना को सर्वोच्च प्राथमिकता दी गई है, जिसके सम्बल से श्रमण-श्रमणी (साधु-साध्वियाँ) असीम आध्यात्मिक उपलब्धियाँ अर्जित कर समाज को संवारते हुए अंततः परमपद (निर्वाण) को प्राप्त करते हैं।

श्रमण-साधना प्राणियों के अभ्युदय को जो उत्कर्ष प्रदान करती है, संभवतः अन्यत्र ऐसी महत्ता नहीं है। भगवान् महावीर ने लोकोपकार की भावना से तभी तो चतुर्विध संघ की व्यवस्था का उपदेश दिया था जिसको तीर्थ व महातीर्थ की महत्ता प्रदान की गयी है। यथा—

तित्थं पुण चाउवन्नाइन्ने समणसंघो,
तंजहा-समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ।^२

श्रमण, श्रमणी, श्रावक एवं श्राविका ही जैन धर्म की धुरी हैं। 'श्रमण' शब्द ही साधना का परिचायक है। तप और खेद (परिश्रम) अर्थवाली 'श्रम्' धातु से श्रमण शब्द बनता है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने कहा है कि 'श्राम्यन्तीति श्रमणा तपस्यन्तीत्यर्थः' अर्थात् जो तप करता है वह श्रमण है। आचार्य रविषेण ने तप को ही श्रम कहा है जिससे राजा लोग भी अपने वैभवपूर्ण जीवन को त्याग अभिभूत हुए—

परित्यज्य नृपो राज्यं, श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सम्बन्धस्तपो हि श्रम उच्यते।^३

१. त्रि, श. पु. च. १०।३।२९ से ३३
२. भगवतीसूत्र सटीक, शतक २, ३, ८, सूत्र ६८२, पत्र १४६
३. पद्मचरित, ६।२

धम्मो दीवो
संसार समुत्तमं
धर्म ही दीप है

राजा लोग राज्य का परित्याग कर तप से जुड़कर “श्रमण बन जाने में गौरव की अनुभूति करते थे। क्योंकि तप ही श्रम है।” ‘श्रम’ धातु के तप और खेद अर्थ को ध्यान में रख कर ‘अभिधानराजेन्द्र कोश’ में ‘श्रमण’ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बताई गई है, यथा—

“श्रममानयति पञ्चेन्द्रियाणि मनश्चेति वा श्रमणः, श्राम्यति संसारविषयेषु खिन्नो भवति तपस्यति वा स श्रमणः।”

श्रमण का मूल प्राकृत रूप “समण” है। इसका संस्कृत रूपान्तर—श्रमण, समन, शमन तथा श्रम है। शम और सम श्रमणसंस्कृति का मूलाधार है। श्रमण साधक है, वह सिद्धत्व के लिए श्रम करता है, तथा स्वयं अपने श्रम से भवबंधनों को तोड़कर स्वयं को मुक्त करता है।

‘समन’ शब्द ‘सम’ उपसर्ग पूर्वक ‘अण’ धातु से बनता है जिसका अर्थ है सभी प्राणियों पर समानता का भाव रखने वाला। उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है—‘समयाए समणो होइ’^१ अर्थात् समता से ही श्रमण होता है। इसी तथ्य को इसी में परखिये—

णत्थि य से कोई वेसो, पिओ य सब्बेसु जीवेसु।

एएण होइ समणो, एसो असो वि पज्जाओ ॥^२

अर्थात् जो किसी से द्वेष नहीं करता, जिसको सभी जीव समान भाव से प्रिय हैं, वह समण है। टीकाकार हेमचन्द्र ने उक्त पद के ‘समण’ शब्द का निर्वचन ‘सममन’ किया है जिसका तात्पर्य है सभी जीवों के प्रति समान मन अर्थात् समभाव। निरुक्त विधि के अनुसार ‘सममन’ एक मकार का लोप होकर ‘समन’ हो गया अर्थात् “सर्वेष्वपि जीवेषु सममनस्त्वात्” अनेन भवति समं मनोऽस्येति निरुक्तविधिना ‘समना’ इत्येषोऽन्योऽपि पर्यायः—

सो समणो जइ सुमणो, भावेण जइ ण होइ पापमणो।

सयणे अजणे य समो, समो अ माणावमाणेसु ॥^३

“समण” सुमना होता है। वह कभी भी पापमन नहीं होता। अर्थात् जिसका मन सदैव प्रसन्न-स्वच्छ निर्मल रहता है, कभी भी कलुषित नहीं होता तथा जो स्वजन एवं परजन में, मान व अपमान में सर्वत्र सम रहता है, सन्तुलित रहता है, वह ‘समण’ है। आज के हिंसक वातावरण में समण की भूमिका और भी उपयोगी है जो लोगों को ‘अहिंसा’ की महत्ता से परिचित कराये। तभी तो कहा गया है—

जह मम ण पियं दुवक्कं, जाणिअ एमेव सब्बजीवाणं।

ण हणइ ण हणावेइ, अ सममणइ तेण सो समणो ॥^४

अर्थात् जिस प्रकार दुःख मुझे अच्छा नहीं लगता, उसी प्रकार संसार के अन्य सब जीवों को भी अच्छा नहीं लगता है। यह समझ कर जो न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से करवाता

१. उत्तराध्ययनसूत्र २।३

२. स्थानाङ्गसूत्र-६

३. स्थानाङ्गसूत्र-३

४. सूत्रकृताङ्ग-१।१६।२

है, सर्वत्र सम रहता है वह 'समण' है। सूत्रकृताङ्ग में भी बताया गया है कि आसक्ति रहित होकर किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं रखता, किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करता, झूठ नहीं बोलता, काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, राग, द्वेष तथा प्राणातिपात आदि जितने भी कर्मादान और आत्मा के पतन के हेतु हैं, उन सबसे निवृत्त रहता है तथा जितेन्द्रिय, शुद्ध संयमी व ममत्व से रहित है वही समण है। भगवान् बुद्ध ने भी 'धम्मपद' में इसी भाव को व्यक्त किया है यथा:—

न मुण्डकेन समणो, अव्वतो अलिकं भणो ।

इच्छालोभसमापन्नो, समणो किं भविस्सति ॥^१

तथ्यतः श्रमण श्रमणी का कठोरतम तपोमयी जीवन समाज में आध्यात्मिकता के उत्थान, नैतिकता के निखार, सर्वाङ्गीण समानता के संवार हेतु समर्पित होता है। युगनिर्माण का बहुत बड़ा उत्तरदायित्व इस वर्ग पर है जबकि आज का अणु-आकुल अंतस शांति की खोज में भटक रहा है। वैभव विलास की चकाचौंध में भागती हुई पीढ़ी के लिए तो आज अध्यात्म व संयम का सम्बल और भी आवश्यक है। अतः मानवता के कल्याण हेतु स्वयं को तपाकर सदाचार की सुधा प्रवाहित करना श्रमण-श्रमणी (साधु-साध्वी) का उत्तरदायित्वपूर्ण पावन कर्त्तव्य है।

“श्रमण” का स्त्रीलिंग प्राकृत में “समणी” है तथा संस्कृत में श्रमणी, श्रमणा, श्रवणा है। “श्रमणा”—कुमारी साध्वी तथा श्रमणी—सुहागिन स्त्री साध्वी। कहने का तात्पर्य है कि स्त्री श्रमणों को ‘श्रमणा’ व ‘श्रमणी’ शब्द से सम्बोधित करते हैं यथा:—

“पदमाख्या श्रमणीमुख्या विश्राण्य श्रमणीपदम्”^२

तथा

“श्रमणा धर्मनिपुणामभिगच्छेति राघव”

अनेक उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि जो स्त्री-पुरुष कुमारावस्था में ही श्रमण दीक्षा ग्रहण कर लेते थे वे क्रमशः कुमारश्रमणा और कुगारश्रमण कहे जाते थे यथा “कुमारः श्रमणादिभिः” तथा “कुमारः श्रमणादिना”। वैदिक ग्रन्थों में भी इस शब्द का प्रयोग कठोरतम साधना के परिप्रेक्ष्य में किया गया है।^३

श्रमण साधना का गंभीर विषय अत्यधिक गरिमाय व विस्तीर्ण है किन्तु संक्षिप्ततः इस छोटे से लेख में मुझे यही कहना है कि ‘श्रमणसाधना अत्यधिक कठोर व लोकोपकारी है। मानवता के मंगल हेतु श्रमण-श्रमणी कठोरतम साधना करके अपनी कंचन सी काया को तप की लौ में तपाकर ऐसा रूप प्रदान करते हैं जिसके प्रवचन के श्रवण तथा दर्शन से ही मनुष्य का आकुल अंतस जुड़ जाता है और वह असीम सुख शांति की अनुभूति करता है।

अतः आज के अणु आयुधों की होड़ में, भौतिकता व वैभव के भटकाव में, दिन प्रतिदिन बढ़ती हिंसात्मक प्रवृत्ति के शमन हेतु, साधु-सन्तों का कृपा-सम्बल संसार के लिए वरदान-स्वरूप सिद्ध हो सकता है, जिसके लिए समष्टिमय प्रयास आवश्यक है। पांच व्रतों का प्रचार-प्रसार करके मानवता के मंगल का आह्वान आज की अनिवार्यता है। □□

—४६, फतेहगढ़, भोपाल (म. प्र.)

१. धम्मपद (धम्मट्ठवग्ग) ९-१०

२. अत्रचूडामणि—११-१६

३. वाल्मीकि रामायण—१-१-५६

